आदि शंकराचार्य का जीवन व उनके उपदेश

भाग १

जोएल दुबुआ द्वारा लिखित व्याख्या

सिद्धयोग पथ के शास्त्रीय आधारों में से एक है, महान ऋषि आदि शंकराचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ। आदि शंकराचार्य वेदान्त के प्रतिपादकों में से सर्वप्रधान थे। अद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वेदान्त, प्राचीन उपनिषदों में दी गई विविध सिखावनियों का समन्वय करता है। उपनिषद् अपने आप में वेदों का एक अभिन्न अंग हैं; और वेद हैं, ऋचाओं व अनुष्ठान-मन्त्रों के विशाल संग्रह, जिनका पाठ मूलतः यज्ञों के दौरान किया जाता है और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विशिष्ट परम्पराओं द्वारा आज तक मौखिक रूप से हस्तान्तरित किए जाते रहे हैं। उपनिषद्, व्याख्यात्मक निरूपण और कथाएँ हैं जो ऐसी ही अनेक परम्पराओं के वेदों के अन्त ['वेदान्त'] में मिलती हैं। इन ग्रन्थों में मन का स्वभाव, बोध तथा आत्मा के विषय में व्यापक दृष्टिकोण लिपिबद्ध हैं।

आदि शंकराचार्य ने मूलतः यह सिखाया कि हम जैसे भी हैं, हममें से हरेक परमात्मा है। यह परमात्मा और विश्वातीत सत्य जिसे ब्रह्म कहते हैं, दोनों एक ही हैं; ब्रह्म में सब कुछ समाहित है और यह हरेक में व्याप्त है। ब्रह्म और हम खुद एक ही हैं इस वास्तविकता का अज्ञान होने के कारण ही हमें अपने चारों ओर पृथकत्व दिखाई देता है, और हम उस परम तत्त्व पर भेद की धारणा आरोपित करते हैं जो वास्तव में अद्वैत तेज है। इतना ही नहीं, ब्रह्मप्राप्ति के लिए हमें कुछ करना होगा, ऐसा कोई भी विचार एक बाधा है जो हमें यह अनुभूति करने से रोकती है कि हम वास्तव में ब्रह्म ही हैं। सिद्धयोग के गुरुजन—गुरुमाई चिद्विलासानन्द, बाबा मुक्तानन्द और भगवान नित्यानन्द अपनी सिखावनियों में ऐक्य की इसी परादृष्टि के बारे में बताते हैं; और बाबा जी की यह सिखावनी इसी एकत्व-दृष्टि का सार है : "आपका राम, आपमें आप होकर रहता है।" आदि शंकराचार्य की यही परादृष्टि अनेक लघु पद्यरचनाओं में प्रतिष्ठापित है जिनका अध्ययन सिद्धयोग पथ पर किया जाता है; इनमें शामिल हैं, 'विवेकचूडामणि' और 'आत्मबोध'।

आदि शंकराचार्य के लिए 'आदि' [अर्थात् 'प्रथम'] की उपाधि का प्रयोग, प्रथम शंकराचार्य और उन्हीं के द्वारा स्थापित परम्परा में, बाद में हुए उपदेशकों के बीच के अन्तर को दर्शाता है। उस परम्परा के अग्रणी उपदेशक बनने पर उनमें से अनेक उपदेशकों को 'शंकराचार्य' की उपाधि दी गई थी। आदि शंकराचार्य की रचनाओं को अन्य व्यक्तियों द्वारा कब से उद्धृत किया जाने लगा, इसकी छान-बीन यह दर्शाती है कि आदि शंकराचार्य लगभग आठवीं शताब्दी में हुए थे। अपने प्रथम शिष्यों के बीच वे 'आचार्य' [उस परम्परा के शिक्षक] या 'भगवत्पाद' [भगवान के चरणकमलों में स्थित] के नाम से जाने जाते थे। इस लेख में, उनके आरम्भिक जीवन के सन्दर्भ में हम उन्हें केवल 'शंकर' कहकर सम्बोधित करेंगे।

शंकराचार्य के जीवन के शताब्दियों पश्चात् रचित उपाख्यानों व श्रुतियों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि उन्होंने व्यापक रूप से भ्रमण किया, अपने समय के महान विद्वज्जनों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और समस्त भारत में मठों [शिक्षा-केन्द्रों] की स्थापना की। कदाचित् उनकी सबसे प्रसिद्ध जीवनी है, 'शंकरदिग्विजय' [दिशाओं पर शंकराचार्य की विजय], जिसकी रचना सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के ऋषि विद्यारण्य स्वामी ने की। हालाँकि इतिहासवेत्ता वस्तुतः विद्यारण्य स्वामी और अन्य जीवनी-लेखकों द्वारा रचित जीवनियों को पूरी तरह सत्य मानने से मना करते हैं, किन्तु विद्यारण्य स्वामी जैसे लेखकों ने शंकराचार्य की प्रामाणिक रचनाओं में स्वयं को तल्लीन कर लिया था और इसीलिए उन लेखकों द्वारा रचित शंकराचार्य की जीवनियों में, शंकराचार्य के अद्वितीय व्यक्तित्व और सिखाने के उनके विलक्षण तरीक़े पर बल दिया गया है। यद्यपि हम शंकराचार्य की यात्राओं और शास्त्रार्थों के विवरण की पुष्टि नहीं कर सकते, तथापि जैसा की जीवनी-लेखक बताते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वेदान्तिक सिद्धान्तों पर उनका प्रभुत्व था और इन सिद्धान्तों पर प्रश्न उठाने वाले अनेकानेक आलोचकों के प्रत्युत्तर में उन्होंने सूक्ष्म तर्कों की रचना की थी। मैंने शंकराचार्य के जीवन का यह विवरण उनकी प्रामाणिक रचनाओं तथा वर्तमान के इतिहासकारों के सन्दर्भों के आधार पर लिखा है, साथ ही मैंने पारम्परिक जीवनी-लेखकों द्वारा प्रदान की गई रूपरेखा का भी उपयोग किया है ताकि उनके लेखों में वर्णित शंकराचार्य से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों और कथाओं में जो तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, उन पर बल दिया जा सके।

जन्म व बाल्यकाल

जीवनी-लेखकों के अनुसार, शंकराचार्य का जन्म दक्षिण भारत के केरल राज्य में, कालड़ी नामक स्थान पर नम्बूदिरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये ब्राह्मण आज तक, वेदों के निष्ठावान वाहक और प्राचीन

यज्ञों के प्रभारी रहे हैं। नम्बूदिरी ब्राह्मण, नारायण के रूप में भगवान विष्णु के उपासक होने के लिए भी जाने जाते हैं—जो कि अन्ततः शंकराचार्य के आराध्य हुए।

जीवनी-लेखक बताते हैं कि शंकर ने अल्पायु में ही वेदाध्ययन आरम्भ कर दिया था, मानो वे अपने पिता की मृत्यु के कारण महसूस होने वाली रिक्तता को दूर करना चाहते थे। कहा जाता है कि जब उनके पिता की मृत्यु हुई थी तब शंकर मात्र तीन वर्ष के थे। ऐसा कहा जाता है कि शंकर का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की परम्परागत आयु से कई वर्ष पहले ही हो गया था। उन्हें प्रदान किए गए पवित्र मन्त्रों को उन्होंने कण्ठस्थ कर आत्मसात् कर लिया और शीघ्र ही वे अपने परिवार के लिए वैदिक अनुष्ठान करने लगे थे। शंकराचार्य की आगामी कृतियों में पाए जाने वाले विविध वैदिक उद्धरण, वैदिक अनुष्ठानों के विषय में उनका विस्तृत ज्ञान और व्याख्याओं में झलकने वाली उनकी काव्यात्मक शैली—यह सब निश्चित ही इस बात की ओर इंगित करता है कि वे एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न बालक थे।

वेदाध्ययन पूर्ण होने के पश्चात् उन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की, कुछ जीवनी-लेखकों के अनुसार तब शंकर की आयु आठ वर्ष की थी। आधुनिक भारत के शहरों और पश्चिमी देशों में, 'संन्यासी' शब्द अधिकतर उन साधुओं के लिए प्रयुक्त होता है जो एक-साथ समुदाय में रहते हैं। तथापि, शंकर के समय में, संन्यासी उन भ्रमण करते रहने वाले साधुओं को कहा जाता था जिन्होंने अपने समस्त पारिवारिक बन्धनों व धार्मिक उत्तरदायित्वों का त्याग कर दिया हो। ग्रामीण भारत के कुछ क्षेत्रों में आज भी इसका प्रचलन है। 'शंकरदिग्विजय' में इस विषय में एक कथा वर्णित है कि किस तरह शंकर ने इतनी कम आयु में संन्यास ग्रहण करने का इतना बड़ा क़दम उठाने के लिए अपनी माँ की अनिच्छा के बावजूद उनसे अनुमति प्राप्त की। इस कथा के अनुसार, जब शंकर पेरियार नदी में स्नान करने गए थे तब एक मगरमच्छ ने उनका पैर पकड़ लिया था। अपनी माँ को पुकारते हुए, शंकर कहने लगे कि यदि वे उन्हें संन्यासी बनने की अनुमति देंगी तो ही वह मगरमच्छ उन्हें छोड़ेगा। माँ ने सोचा कि यदि यह सत्य हुआ तो कम-से-कम वे अपने पुत्र को जीवित तो देख पाएँगी, अतः उन्होंने शंकर को स्वीकृति दे दी। मगरमच्छ ने तुरन्त शंकर को छोड़ दिया। इस कथा की सत्यता चाहे जो भी हो, यह उस श्लोक में अभिव्यक्त की गई छवि का चित्रण करती है जिसकी रचना शंकर ने ऋषि गौड़पाद की स्तुति में की थी। इसमें वे नाटकीय ढंग से वर्णन करते हुए कहते हैं कि जीवन हिंसक पशुओं से भरा है जिनसे मृत्यु व पुनर्जन्म का भय उत्पन्न होता है :

उन्होंने सभी जीवों को उफनते, प्रचण्ड व भयानक समुद्र में डूबे हुए देखा,
अनन्त जन्मों और पुनर्जन्मों का भक्षण करने वाले हिंसक पशुओं के चंगुल में जकड़े हुए

वे जीव अत्यधिक भयभीत थे,
और उन समस्त जीवों के प्रति करुणावश,
उन्होंने वेदों के विशाल सागर की गहराई में से अमृत निकाल लिया।[१]

वह चाहे मगरमच्छ हो या बस श्रीगुरु की शक्ति का अनुभव हो, जिसने इस प्रक्रिया में उत्प्रेरक के रूप में कार्य किया, परन्तु यह सच है कि शंकर ने वैदिक अनुष्ठान करने के अपने उत्तरदायित्वों को त्याग दिया और एक ऐसे गुरु को खोज लिया जिन्होंने शंकर को इस श्लोक में वर्णित औषधि प्रदान की : वेदों के विशाल सागर से प्रकट किया गया बोध का 'अमृत'। वे थे श्रीगोविन्दपाद, जिनकी स्तुति करते हुए शंकराचार्य कहते हैं, "सूर्य की किरणों के समान उनकी वाणी ने अन्धकार की मलिनता को नष्ट कर दिया"[२]—और जिनके बारे में 'शंकरदिग्विजय' में वर्णन किया गया है कि उनके गुरु और कोई नहीं, महान वेदान्त गुरु गौड़पाद थे, जिनकी स्तुति ऊपर्युक्त श्लोक में की गई है।

भाष्यों [व्याख्याओं] के माध्यम से उपदेश देना

'शंकरदिग्विजय' में कहा गया है कि श्रीगोविन्दपाद से मिलने के बाद शंकर इतनी जल्दी सब कुछ सीख गए कि उन्हें गहन बोध पाने के लिए अपने श्रीगुरु के निर्देशों की आवश्यकता बहुत कम ही रही। शीघ्र ही शंकर के गुरुवर ने उन्हें वाराणसी [बनारस] की पावन नगरी जाने का आदेश दिया और तत्पश्चात् हिमालय जाने का, जहाँ शंकर ने अनेक ऋषि-मुनियों से भेंट की व उनसे विचार-विमर्श कर, अनेक भाष्य लिखे। कहा जाता है तब उनकी आयु बारह वर्ष की थी। शंकराचार्य द्वारा रचित कृतियाँ प्रमाणसिद्ध हैं और आज भी उपलब्ध हैं, जिनमें शामिल हैं दस उपनिषदों पर उनके भाष्य और साथ ही श्रीभगवद्गीता पर टीका। उन्होंने उपनिषदों के दर्शन को सुव्यवस्थित करते हुए और भी कई ग्रन्थ लिखे : वेदान्त या ब्रह्मसूत्र पर भाष्य; गौड़पादकारिकाओं पर एक भाष्य जो उनके गुरु के गुरु, गौड़पाद को समर्पित पद्यरचना है; और पद्य व गद्य रूप में एक संकलन जिसे 'उपदेशसहस्री' [एक हज़ार उपदेश] कहा जाता है। इन कृतियों की रचना करते समय शंकराचार्य की जो भी उम्र रही हो, इन कृतियों में झलकने वाली इनकी मौलिकता और विचारों की संगतता से, एक ऐसे प्रतिभासम्पन्न युवा का दृढ़ विश्वास तथा एकाग्रता दिखती है जिसे गुरुजनों के अल्प मार्गदर्शन की आवश्यकता रही। यद्यपि जीवनी-लेखक यह वर्णन करते हैं कि शंकराचार्य द्वारा लिखे गए भाष्य वैसे ही हैं जैसे कि सभी महान गुरुजनों से अपेक्षित होते हैं, तथापि इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण कम ही मिलता है कि शंकराचार्य से पूर्व किसी ने भी इतने व्यापक रूप से पारम्परिक ग्रन्थों पर इस प्रकार विस्तार से भाष्य लिखने का प्रयास किया हो।

हज़ारों पन्नों में प्रकाशित, शंकराचार्य की कृतियाँ इतनी व्यापक हैं कि वह व्यापकता उनके उपदेश देने के तरीक़े की सरलता और स्पष्टता को बहुत आसानी से ढक सकती है। अपनी समस्त रचनाओं में, आदि शंकराचार्य इस बात पर ज़ोर देते हैं कि परम सत्य की प्राप्ति करने के लिए, साधक को वन्दनीय सद्गुरुओं के शब्दों का श्रवण करना चाहिए, उन पर मनन करना चाहिए और उन पर एकाग्र होकर सूक्ष्मता से ध्यान देना चाहिए [निदिध्यासन];[३] ब्राह्मण परम्परा की सामान्य मान्यता के ही अनुरूप, शंकराचार्य के लिए भी वेद [व उनमें समाविष्ट उपनिषद्] सर्वप्रथम व सर्वप्रमुख 'श्रुति' [श्रवण करना] हैं। यह इस बात पर बल देता है कि इन श्रुतियों यानी इन मौखिक सूत्रों का स्वरूप ऐसा है कि [मात्र पढ़ने या सिद्धान्तों पर विचार करने की अपेक्षा] इन्हें 'सुनना' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में प्रायः ऐसी कथाओं के वर्णन मिलते हैं जिनमें ऋषि-मुनि एक या अधिक ऐसे शिष्यों को उपदेश दे रहे होते हैं जो उनके शब्दों को सुनते हैं, उन पर विचार करते हैं और उन पर अपनी एकाग्रता बनाए रखते हैं अर्थात् वे शिष्य अपने गुरु के शब्दों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर रहे होते हैं। और इसे आगे बढ़ाते हुए, शंकराचार्य इसी पद्धति को एक ढाँचे के रूप में अपनाकर, उपनिषदों में निहित अनेकानेक कथाओं और महावाक्यों का सावधानीपूर्वक परीक्षण करते हैं और इसी तरीक़े से वे उन अनेक प्रतीकों या बिम्बों का भी परीक्षण करते हैं जिनके माध्यम से गूढ़ सत्य समझाए गए हैं। वेदों में मौखिक रूप से कहे गए वाक्यों का सावधानीपूर्वक परीक्षण करने को जो उच्च प्राथमिकता दी गई है वह 'वेदान्तसूत्रों' की पहली चार सूक्तियों में प्रतिबिम्बित होती है :

१. अब हम ब्रह्म को जानने की इच्छा करें,

२. जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, इत्यादि [अर्थात्, जिसमें उनका अस्तित्व भी है और जिसमें वे सब लय भी हो जाती हैं];

३. क्योंकि यह वेदों का स्रोत है;

४. और [सभी वेदों] के समन्वय से उसे [ब्रह्म को] जाना जाता है।[४]

सिद्धयोग पथ पर, अध्ययन की इस परम्परा को श्रीगुरुमाई के निर्देश द्वारा संरक्षित रखा गया है जिसके अनुसार हम सिद्धयोग के गुरुजनों की सिखावनियों का अध्ययन करते हैं, उनका अभ्यास करते हैं, उन्हें आत्मसात् करते हैं व उनका परिपालन करते हैं और जैसा कि हमने आरम्भ में देखा, सिद्धयोग के गुरुजन प्रायः अपनी सिखावनियों में वेदान्त के उपदेशों को समाविष्ट करते हैं।

उपनिषद्कालीन ऋषि-मुनियों के शब्दों का प्रचार-प्रसार

उद्दालक आरुणि ['गौतम' के नाम से भी प्रसिद्ध] और याज्ञवल्क्य, उपनिषद् युग के दो तत्त्ववेत्ता थे जिनके वचन छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में विस्तार से संगृहीत हैं। ऋषि उद्दालक के लिए, स्वयं को जानना ही समस्त विश्व को जानने की कुंजी है, क्योंकि जो हम वास्तव में हैं उसीसे सब कुछ उपजा है; और यही सत्य ऋषि उद्दालक द्वारा अपने पुत्र को प्रदान किए गए सामर्थ्यशाली मन्त्र में प्रतिपादित है : तत्त्वमसि [तुम वह हो]। दूसरे शब्दों में, जो कुछ भी हम देखते हैं, वह उसी एक परम पुरुष का रूप है जो समस्त वस्तुओं का मूल है। उस एकमेव पुरुष को ठीक उसी रूप में जाना जा सकता है जैसे समस्त पुष्पों का सार है, मधुरस; जैसे समस्त सरिताओं के विलीन होने का स्थान है, समुद्र; और जैसे सम्पूर्ण वृक्ष में एक ही अर्क यानी रस पाया जाता है।[५]

इसी सत्य के प्रति ऋषि याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। वे उस परम सत्ता यानी परम पुरुष को 'बृहत् अज आत्मन्' [महान आत्मा जो अजन्मा है] कहते हैं। इस महान आत्मा का विस्तार से वर्णन करने के लिए जब ज़ोर दिया गया तो उसके प्रत्युत्तर में ऋषि याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से बताते हैं कि यह महान आत्मा वही है जो हममें से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान होकर देखती है, किन्तु उसे देखा नहीं जा सकता; वही सुनती है किन्तु उसे सुना नहीं जा सकता। यह वही है जो श्वास लेती है। उस महान आत्मा के प्रति प्रेम होने के कारण ही मनुष्य को दूसरे प्रिय लगते हैं। और जब इससे आगे समझाने के लिए कहा जाता है तो ऋषि याज्ञवल्क्य केवल "नेति नेति" कहते हैं। "नेति नेति"—यह एक संक्षिप्त वाक्यांश है जो बना है 'न' और 'इति' से मिलकर। 'न' का अर्थ है, निषेध या नकारना और 'इति' समाप्ति-सूचक शब्द है, जो किसी उद्धरण या विवाद के समापन को सूचित करता है। अतः 'नेति नेति' यह दर्शाता है कि कोई व्यक्ति चाहे आत्मा के किसी भी गुण-विशेष का वर्णन करे, या उस महान आत्मा के विषय में किसी भी पहलू पर विवाद करे, फिर भी वह वर्णन या विवाद आत्मा के उस गुण को सटीक रूप से व्यक्त नहीं कर पाएगा : '____नहीं, ____नहीं।'

इन दो ऋषियों के दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर शंकाराचार्य अपनी ही व्याख्या देते हैं कि ब्रह्म क्या है और क्या नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ऋषि याज्ञवल्क्य की उद्घोषणाओं को उच्चतम बोध का स्थान देते हैं, और ऐसा करके शायद वे इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा उद्दालक आरुणि को पराजित करने के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का वर्णन किया गया है। फिर भी, ऋषि उद्दालक या उपनषिदों में जिन ऋषियों के उपदेश निहित हैं, उनके कथन को अविश्वसनीय मानना तो दूर, शंकराचार्य इस बात पर बल देते हैं कि

उनके 'महावाक्यों' में निहित सत्य का यथार्थ रूप में श्रवण करना, उन पर समुचित विचार करना और पूर्णरूप से ध्यान देकर उन पर केन्द्रण करना, तथा हर एक महावाक्य का जो महत्त्व है, उसे समझना ही ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की कुंजी है।[६] सिद्धयोग पथ पर भी, हमसे आग्रह किया जाता है कि हम अपने श्रीगुरुओं की हर एक सिखावनी पर सूक्ष्मता से चिन्तन-मनन करें और फिर अपनी साधना में उसके महत्त्व को समझने का भरसक प्रयास करें।

अविद्या व अध्यास

उपनिषदों के महावाक्यों को समझने में साधकों की सहायता करने हेतु, शंकराचार्य उसे पहचानकर निश्चित रूप से बताते हैं जो हमारी दृष्टि को धुँधला कर देता है और हमें समस्त सृष्टि के मूल, परम आत्मा अर्थात् ब्रह्म के दर्शन नहीं करने देता। इस अविद्या [अर्थात् अज्ञानता, ज्ञान का अभाव, ज्ञान के प्रति अन्धता] का कारण है, मन की एक वृत्ति जिसे शंकराचार्य 'अध्यास' [अर्थात् अध्यारोपित करना] कहते हैं। हम जो कुछ भी देखते हैं, जिसकी भी अनुभूति करते हैं, उस पर हमारा मन सतत भेद लादता रहता है। इसके परिणामस्वरूप हम उसमें 'द्वैत' [भेद] देखने लगते हैं जिसमें वास्तव में एक ही [अद्वैत] तेजोमय पूर्ण ब्रह्म का ही अस्तित्व है।

यह सिद्धान्त, वेदान्त दर्शन के लिए आदि शंकराचार्य का एक अद्वितीय योगदान है जो आरम्भ में व्यापक तौर पर गूढ़ या काल्पनिक लग सकता है। तथापि, उपासना के दैनिक अभ्यास में रत रहने के कारण, आदि शंकराचार्य के ब्राह्मण अनुयायियों को 'अध्यास' अर्थात् अध्यारोपण की धारणा पहले से ही स्पष्ट रूप में ज्ञात थी—जिसमें साधक यह धारणा करता है कि साधारण-सी वस्तुएँ पावन हैं। उपनिषदों के अनेक श्लोकों में उपासना की विधि इस प्रकार बताई गई है कि साधक प्राण को ब्रह्म समझे; सूर्य को एक देवता समझे; अपने उदर को यज्ञ की अग्नि समझे जिसमें अन्न को आहुति के रूप में अर्पित किया जाता है; या फिर वैदिक स्तुतियों के अंशों को ऋतुओं का चक्र समझे। आदि शंकराचार्य चित्तशुद्धि व एकाग्रता बढ़ाने के उपाय के रूप में, साधारण वस्तुओं के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने की विधि को पूर्ण रूप से अंगीकार करते हैं।[७] तथापि, ऋषि उद्दालक और ऋषि याज्ञवल्क्य के उपदेशों के अनुसार, ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने की प्रक्रिया में, शंकराचार्य साधकों को यह सलाह देते हैं कि वे समस्त धारणाओं को छोड़ दें जिन्हें उन्होंने अध्यारोपित किया है—यहाँ तक कि साधक प्रकृति के तत्त्वों पर दिव्यता की धारणाओं को भी आरोपित न करें।[८] अपनी अवधारणाओं को छोड़ देने की आदि शंकराचार्य की यह सलाह हमें सहज-स्थिति की अनुभूति करने के लिए ग्रहणशील बना देती है, इसका एक उदाहरण है, जब उपासक अपनी उपासना के समापन पर होने

वाली शुद्ध अनुभूति के साथ बना रहता है और उसे जो अनुभूति हो रही है उस पर कुछ भी आरोपित किए बिना केवल एक साक्षी के रूप में देखता है।

शंकराचार्य का तर्क यह है कि जो व्यक्ति जगत की वस्तुओं के प्रति अनासक्त रहकर और समस्त सीमितताओं से मुक्त होने की ललक के साथ, इस साधन को दृढ़ता से, प्रयत्नपूर्वक अपनाता है, वह इस देह में रहते हुए ही ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है और निश्चित रूप से करेगा, वह एकात्म हो जाएगा। विरोधाभासी रूप से, शंकराचार्य ज़ोर देकर कहते हैं कि इस ब्रह्मविद्या का उदय बिना किसी प्रयास के स्वतः ही होता है। तथापि, यह ज्ञानप्राप्ति वैदिक अनुष्ठान करने के समान ही है, ऐसा बताकर, वे साधकों को इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यावहारिक मार्गदर्शन भी प्रदान करते हैं।[९] एक ब्राह्मण पुजारी यज्ञ में आहुति देने से पहले अपने मन में उस देवता का आवाहन करता है जिन्हें वह आहुति अर्पित कर रहा है, फिर यह कहते हुए वह आहुति अर्पित करता है : "यह देवता के लिए है—यह मेरा नहीं है!" इसी प्रकार, जो साधक ब्रह्मविद्या को प्राप्त करना चाहता है, परम आत्मा की अनुभूति करना चाहता है, वह उपनिषदों के एक या अनेक कथनों का अपने मन में स्मरण करता है और ब्रह्म के साथ अपने एकत्व को घोषित करता है और फिर स्वयं को यह स्मरण कराते हुए कि, "यह देह, यह मन, ये संवेदनाएँ—ये सभी मेरे नहीं हैं,"[१०] वह समस्त बन्धकारक अवधारणाओं [अध्यासों] को त्याग देता है। फिर, शंकराचार्य की व्याख्यात्मक सिखावनी मन को पर्याप्त मार्गदर्शन देती है कि वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने की अपनी आदत को त्याग दे। और इसी के समान, सिद्धयोग के गुरुओं की सिखावनियों में भी शिष्य यह पहचान लेगा कि आत्मा क्या है और क्या नहीं है।

© २०२३ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

---

[१] गौडपादकारिकाभाष्य, ४.१००; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[२] उपदेशसहस्री १७.२; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[३] यह सिद्धान्त बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.५ और ४.५.६ में ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयी को दिए गए उपदेश पर आधारित है और अधिकांश वेदान्त-लेखकों ने इसे स्वीकार किया है।

[४] ब्रह्मसूत्रभाष्य, १.१-४; अंग्रेज़ी भाषान्तर © २०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन।

[५] छान्दोग्योपनिषद्, ६।

[६] ब्रह्मसूत्रभाष्य, १.४।

[७] तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य, १.१०, २.२-३, और बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, १.१.१, १.३.२८; जोएल दुबुआ द्वारा भाषान्तरित *Hidden Lives of Brahman* से [न्यूयॉर्क : SUNY Press, २०१५], पृ. ९८-१०२।

[८] ब्रह्मसूत्रभाष्य, १.१.१, ३.३.९, ४.१.५–६; जोएल दुबुआ द्वारा *Hidden Lives of Brahman* के अनुसार, पृ. १०३-४।

[९] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, १.३, १.४.७, ३.५ और ४.४.२२; जोएल दुबुआ द्वारा *Hidden Lives of Brahman* के अनुसार, पृ. ३१९-४०।

[१०] उपदेशसहस्री १.८, १०, १३; २.३; जोएल दुबुआ द्वारा *Hidden Lives of Brahman* के अनुसार, पृ. ३४०-४३।